



Research Inspiration

(Peer-reviewed, Open Access and indexed)

Journal home page: www.researchinspiration.com
ISSN: 2455-443X, Vol. 11, Issue-I, December 2025



योगवासिष्ठ में अविद्या से उत्पन्न मनोरोग एवं उनकी चिकित्सा

Priyanka Gulera^{a,*},

Dr. Arpita Negi^{b,**},

^aResearch Scholar, Department of Yoga Studies, Himachal Pradesh University Summer Hill Shimla, H.P. (India).

^bAssistant Professor, Department of Yoga Studies, Himachal Pradesh University Summer Hill Shimla, Himanchal Pradesh (India).

KEYWORDS

योगवासिष्ठ, अविद्या, मनोरोग, मानसिक उपचार, आत्म-विचार, ध्यान, वेदान्त मनोविज्ञान, आत्म-ज्ञान, वैराग्य, चित्त-शुद्धि, चेतना।

ABSTRACT

योगवासिष्ठ मानव-मन के गहन मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक स्वरूप को प्रस्तुत करता है, जहाँ अविद्या को समस्त दुःखों एवं मानसिक विकारों का मूल कारण माना गया है। ग्रंथ के अनुसार जब मन मिथ्या धारणाओं, अहंता-आधारित आसक्तियों तथा भ्रमपूर्ण विचारों से आच्छादित हो जाता है, तब चिंता, भय, शोक, अशांति और आंतरिक द्वंद्व जैसे विभिन्न प्रकार के मनोरोग उत्पन्न होते हैं। ये विकार केवल भावनात्मक अशांति नहीं, बल्कि वास्तविकता के गलत ज्ञान से उत्पन्न गहन मानसिक विकोभ माने गए हैं। योगवासिष्ठ इन विकारों की चिकित्सा हेतु आत्म-जागरूकता, विचार-विमर्श (विवेकदृष्टि), वैराग्य, मनोशोधन एवं आत्मस्वरूप की पहचान को आधार बनाकर एक समग्र उपचार पद्धति प्रस्तुत करता है। ध्यान, विश्व की अनित्यता का बोध, तथा समत्वभाव की साधना के माध्यम से यह ग्रंथ ऐसे रूपांतरणकारी उपाय सुझाता है जो अविद्या का नाश कर मानसिक संतुलन एवं शांति स्थापित करते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में योगवासिष्ठ में वर्णित अविद्या-जनित मनोरोगों, उनके दार्शनिक कारणों तथा सुझाए गए उपचार-मार्गों का विश्लेषण किया गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि यह प्राचीन ग्रंथ आधुनिक मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक उपचार के लिए भी अत्यंत प्रासंगिक सिद्ध हो सकता है।

योगवासिष्ठ भारतीय दर्शन का एक अत्यंत गूढ़ ग्रंथ है, जिसमें मन, अविद्या (अज्ञान) और आत्मज्ञान के माध्यम से मुक्ति का मार्ग बताया गया है। आधुनिक युग में बढ़ते हुए मानसिक रोगों जैसे तनाव, अवसाद, भय, चिंता विकार तथा अस्थिरता के मूल में अविद्या अर्थात् आत्मस्वरूप का विस्मरण निहित है।

मानव जीवन का मूल उद्देश्य आत्मसाक्षात्कार है, परन्तु जब मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को ही भूल जाता है, तब वह 'अविद्या' की स्थिति में प्रवेश करता है। योगवासिष्ठ ग्रन्थ के अनुसार यह अविद्या अत्यन्त अद्भुत,

सूक्ष्म है और इसका वास्तविक अस्तित्व नहीं है, फिर भी यह अनंत काल तक बनी रहती है। यह अविद्या मिथ्या होने पर भी ऐसी प्रतीत होती है जैसे इसी (अविद्या) के आधार पर सम्पूर्ण जगत् का निर्माण हुआ है और जगत् की समस्त गतिविधियाँ इसी पर आधारित हैं।¹ अर्थात् अविद्या ही समस्त दुःखों एवं भ्रमों की जननी है और व्यक्ति को आंतरिक असंगति, आत्मविस्मृति या अवचेतन संघर्ष अनुभव होते हैं। अतः योगवासिष्ठ की शिक्षाएँ आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धांतों से मेल खाती हैं।

अविद्या की परिभाषा

* Corresponding author

E-mail: priyaraiput46104@gmail.com (Priyanka Gulera).

DOI: <https://doi.org/10.53724/inspiration/v11n1.02>

Received 5th Nov. 2025; Accepted 25th Nov. 2025

Available online 5th Dec. 2025

2455-443X / ©2025 The Journal. Published by Research Inspiration (Publisher: Welfare Universe). This work is licensed under a [Creative Commons Attribution-NonCommercial 4.0 International License](https://creativecommons.org/licenses/by-nc/4.0/)

<https://orcid.org/0009-0002-5574-3592>



संसार के बीज को अविद्या कहते हैं। यह अविद्या न होते हुए अर्थात् दिखाई न देने के उपरान्त भी होती है। यह प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखाई देती, फिर भी इसे सत्य नहीं कह सकते। शून्य रूप होने पर भी देखने में यह सुन्दर अनुभव होती है।¹²

चित्त ही अविद्या है

योगवासिष्ठ के अनुसार चित्त को ही समस्त आडम्बर को उत्पन्न करने वाली अविद्या समझना चाहिए। यह चित्त ही विचित्र इन्द्रजाल शक्ति द्वारा इस जगत् को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार वृक्ष और तरु शब्द एक ही वस्तु के नाम हैं, दोनों में कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार अविद्या, चित्त, जीव और बुद्धि इत्यादि में कोई भेद नहीं है³ अर्थात् अविद्या के कारण ही व्यक्ति के चित्त में विक्षेप उत्पन्न होता है, जिस कारण चित्त (मन) संकल्प-विकल्प में डूबा रहता है।

योगवासिष्ठ में कहा गया है कि मन ही मनुष्य के बन्धन व मोक्ष का कारण है।⁴ मन का स्वरूप चैतन्य है, परन्तु जब उसमें संकल्प-विकल्प, आसक्ति और द्वेष उत्पन्न होते हैं तो वह अविद्या से ग्रस्त हो जाता है। जब मन आत्मा से अलग होकर विषयों की ओर आकर्षित होता है तब उसमें अस्थिरता उत्पन्न होती है, यही से मानसिक रोगों का आरम्भ होता है।

योगवासिष्ठ के अनुसार मानसिक रोगों के कारणों का विस्तृत वर्णन इस प्रकार से है

1) चित्त (मन)

योगवासिष्ठ ग्रन्थ के अनुसार मन अनेक प्रकार के दोषों से ग्रस्त होता है।⁵ महर्षि वसिष्ठ ने इन दोषों को वासना व मोह का कारण बताया है। वासनाएँ ही मोह को उत्पन्न करती हैं। जिससे मनुष्य दुःख प्राप्त करता है। आत्मा तो शांत, पवित्र तथा निर्मल है परन्तु मन वासनाओं के कारण मोह में पड़ कर मूढ़ बना हुआ है।⁶

2) अविद्या

अविद्या संसार के बीज को अविद्या कहते हैं। अविद्या प्रत्यक्ष रूप से दिखाई नहीं देती, परन्तु भीतर शून्य रूप में विद्यमान रहती है। दिखाई न देने पर भी यह समस्त मनुष्य के भीतर कार्य करती रहती है।⁷ अर्थात् अविद्या मनुष्य के भीतर वासना, विषय भोग इत्यादी उत्पन्न करती है। परिणामस्वरूप मनुष्य सुख-दुख, जन्म-मृत्यु इत्यादि को प्राप्त होता है।

3) माया

ब्रह्म की अपार, आदि और अन्त रहित चित्त शक्ति ही माया के रूप में प्रकट होती है। माया का स्वभाव कोई नहीं जानता। ज्ञान की उत्पत्ति होते ही यह नष्ट हो जाती है।⁸ माया के कारण ही मनुष्य अहंकार से ग्रस्त होता है, माया ही अविद्या है, माया असत् है।⁹ माया से युक्त मनुष्य वास्तविक ज्ञान से वंचित रहता है।

5) कर्म

मनुष्य के मन का विकास कर्म द्वारा ही होता है, कर्म के अनुसार ही मनुष्य फल प्राप्त करता है। इस संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जिसको कर्मों का फल प्राप्त न हो।¹⁰

मानसिक रोगों की उत्पत्ति के कारणों में कर्म एक मुख्य कारण है। इस संसार में मनुष्य को जो भी कुछ अर्थात् मान-अपमान, सुख-दुःख, धन-निर्धनता आदि प्राप्त होते हैं वह सब कर्म फल के कारण होते हैं।

आधि-व्याधि

आधि तथा व्याधि के कारण मनोकायिक रोग उत्पन्न होते हैं। मनोकायिक रोगों से अभिप्राय उन रोगों से है, जो मानसिक तनाव के कारण उत्पन्न होते हैं तथा उनका प्रभाव शरीर पर भी पड़ता है। ये रोग मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव डालते हैं।

इन दोनों प्रकार के रोगों का वर्णन इस प्रकार से है:-

आधि (मानसिक रोग)

तत्त्व ज्ञान तथा इन्द्रिय निग्रह के अभाव से उत्पन्न चित्त

की चंचलता तथा राग-द्वेष के कारण जो चिन्ता होती है, उससे आधि उत्पन्न होती है।¹¹

उदाहरण— काम-क्रोध, राग-द्वेष, लोभ-मोह से उत्पन्न तनाव, चिन्ता, भय, अवसाद इत्यादि मानसिक रोग।

व्याधि (शारीरिक रोग)

इच्छाओं व वासनाओं के बार-बार उत्पन्न होने से, मूर्खता के कारण व चित्त के अनियन्त्रण होने से, दुष्ट मनुष्यों का संग करने से व्याधि उत्पन्न होती है।¹²

उदाहरण— चिन्ता, तनाव, भय, अवसाद इत्यादि से उत्पन्न शारीरिक रोग जैसे— आधे सिर का दर्द, अनिद्रा, पाचन तन्त्र में खराबी, उच्च रक्त चाप, हृदय रोग, मधुमेह इत्यादि।

उपरोक्त वर्णित सभी विकारों की जड़ अविद्या है। अविद्या के वशीभूत होकर मनुष्य अपने अस्तित्व का आधार 'आत्मा' को भूल जाता है। वह बाहरी विषयों में सुख खोजने लगता है और जब सुख प्राप्त नहीं होता तो मानसिक तनाव उत्पन्न होने लगता है। परिणामस्वरूप मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं।

योगवासिष्ठ ग्रन्थ में मनोचिकित्सा

महर्षि वसिष्ठ ने अविद्या को एक व्याधि बताया है। इस व्याधि का उपचार करना अत्यन्त आवश्यक है। अविद्या व्यक्ति के चित्त को आच्छादित कर देती है, जिस कारण व्यक्ति वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता। यह अविद्या रूपी व्याधि व्यक्ति के मन के भीतर अनेक प्रकार की भ्रांतियां उत्पन्न करती है।¹³

अविद्या का नाश

अज्ञात अविद्या ही अनन्त काल तक अनुभव में आती है। ज्ञात अविद्या मृगतृष्णा की नदी के समान तुरन्त ही नष्ट हो जाती है।¹⁴

परमात्मा के साक्षात्कार से अविद्या का अंत स्वतः हो जाता है। बाहरी विषयों के प्रति आसक्ति ही अविद्या का मूल कारण है। इच्छाओं की उत्पत्ति अविद्या से होती है, और

जब आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, तब आसक्ति और इच्छा दोनों ही नष्ट हो जाती है।¹⁵ श्री रामचन्द्र ने महर्षि वसिष्ठ से प्रश्न करते हुए कहा है, कि अविद्या को किस प्रकार समाप्त किया जा सकता है तथा अज्ञान से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है?¹⁶

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि वसिष्ठ कहते हैं कि जैसे सूर्य के प्रकट होते ही घना अंधकार समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार व्यक्ति को अविद्या से उत्पन्न मोह और बन्धन समाप्त करने का केवल एकमात्र उपाय आत्मसाक्षात्कार ही है। आत्म ज्ञान की प्राप्ति होते ही अविद्या जड़ से समाप्त हो जाती है।¹⁷

महर्षि वसिष्ठ एक दृष्टान्त द्वारा इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि जैसे धूप में छाया का अस्तित्व नहीं रहता, उसी प्रकार परब्रह्म के दर्शन या परम ज्ञान प्राप्त होने के उपरान्त अविद्या भी स्वयं समाप्त हो जाती है।¹⁸

जब ज्ञान हो जाता है तब उसमें ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं रहता। असत्य और अवास्तविक होने के कारण यह अविद्या विचार के बिना अनुभव में आती है, ज्ञान होने पर नष्ट हो जाती है।¹⁹

ज्ञान द्वारा अविद्या का नाश

अज्ञान या ज्ञान का अभाव ही अविद्या है। यह अविद्या मनुष्य के अनुभव में अत्यंत दीर्घ काल तक बनी रहती है। परन्तु जब सत्य ज्ञान का उदय होता है, तब अविद्या मृग-तृष्णा की नदी के समान तत्काल ही नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार सूर्य उदय होते ही रात्रि का अंधकार स्वतः समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश से अविद्या का पूर्ण विनाश हो जाता है।²⁰

जब विवेक ज्ञान की उत्पत्ति होते ही अविद्या नष्ट हो जाती है। अविद्या स्वभावतः निर्बल है और किसी अन्य तत्त्व पर आधारित नहीं रहती। ज्ञान के अभाव में यही प्रबल प्रतीत होती है,²¹ जैसे ही ज्ञान प्राप्त होता है, असत्य

और अवास्तविक होने के कारण अविद्या विचार अथवा अनुभव का विषय नहीं रह जाती। ज्ञान के उदित होते ही इसका भेद मिट जाता है।¹³ अतः अविद्या का नाश केवल मात्र ज्ञान से ही सम्भव है।

चित्तशुद्धि के साधन

योगवासिष्ठ ग्रन्थ में चित्तशुद्धि के साधनों का वर्णन किया गया है जो कि इस प्रकार से है:—

- (1) **शम**— इन्द्रियों व मन को नियन्त्रण में रखना शम कहलाता है। शम द्वारा कल्याण प्राप्त होता है, शम परम पद है, शम शिव है, शम भ्रांति को नष्ट करता है। शम से तृप्त, शीतल और निर्मल आत्मा वाले एवं शम से जिसका चित्त विभूषित है, उसका शत्रु भी मित्र बन जाता है।²²
- (2) **सन्तोष**— सन्तोष परमश्रेय है और सन्तोष को स्वर्गसुख भी कहा गया है, क्योंकि संतोषी पुरुष असीम विश्रान्ति सुख को प्राप्त होता है अर्थात् उसका विक्षेपदुःख सर्वथा निवृत्त हो जाता है।²³
- (3) **विचार**— बुद्धि विचार से सूक्ष्म तत्त्व के ग्रहण में निपुण होकर परम पद को देखती है, इसलिए विचार संसार रूपी महारोगों की महौषधि है।²⁴ दुःखसन्तरण के लिए विद्वानों के पास विचार के सिवा और कोई उपाय नहीं है। सज्जनों की मति, विचार से अशुभ का त्याग कर शुभ को प्राप्त होती है।²⁵
- (4) **साधुसंग**— साधुसंग दीपक है और हृदय अंधकार को दूर करने वाली ज्ञापारूपी सूर्य की प्रभा है। जिसने शीतल और स्वच्छ साधु संगतिरूपी गंगा में स्नान किया है, उसको दान से, तीर्थों से, तपस्याओं से और यज्ञों से कोई प्रयोजन नहीं है।⁴

ज्ञान की सात भूमियों द्वारा मनोचिकित्सा

योगवासिष्ठ ग्रन्थ में ज्ञान की सात भूमियों का वर्णन किया गया है। महर्षि वसिष्ठ के अनुसार यदि मनुष्य इन सात

भूमियों का अभ्यास करता है तो वह अज्ञान से मुक्त हो जाता है।²⁶ इन सात भूमियों का वर्णन इस प्रकार से है:—

1. **शुभेच्छा**— जब साधक के भीतर सत्य को जानने की प्रबल इच्छा जागृत होती है तथा वह शास्त्रों और सत्संग द्वारा वास्तविक ज्ञान की खोज करना आरम्भ करता है, तब इस अवस्था को शुभेच्छा कहा जाता है। यह आत्म-विकास की प्रथम भूमि है, जहाँ साधक के भीतर सत्य ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न होती है।²⁷
2. **विचारणा**— शास्त्रों के अध्ययन, सत्संग तथा सिद्ध पुरुषों के मार्गदर्शन द्वारा विवेचन-विश्लेषण करने से साधक में वैराग्य, सत्प्रवृत्ति और सदाचार का विकास होता है। अपने जीवन, विचारों और व्यवहार का निरीक्षण करने की यह प्रक्रिया विचारणा कहलाती है। इसमें साधक विवेकपूर्ण चिंतन और आत्मनिरीक्षण का अभ्यास करता है।²⁸
3. **तनुमानसा**— शुभेच्छा और विचारणा दोनों के निरंतर अभ्यास द्वारा इन्द्रियों एवं विषयों के प्रति आसक्ति कम होने लगती है। मन की स्थूलता और चंचलता घटती है तथा साधक का आंतरिक स्वभाव अधिक सूक्ष्म और स्थिर होने लगता है। मन की इसी सूक्ष्म अवस्था को तनुमानसा कहा जाता है।²⁹
4. **सत्तापति**— अभ्यास जब साधक पूर्व की तीनों भूमियों का दृढ़तापूर्वक अभ्यास कर लेता है और विषय-विकारों से उसका मन पृथक् हो जाता है, तब उसके अन्तःकरण में सत्य का प्रकाश स्थिर होने लगता है। साधक के भीतर यह स्थिर अनुभूति सत्तापति कहलाती है। इसमें साधक के भीतर आत्मबोध का प्रथम स्पष्ट अनुभव उत्पन्न होता है।³⁰

5. **असंसक्ति**— सत्तापति के बाद साधक संसार के विषयों और परिस्थितियों के साथ रहते हुए भी उनसे अप्रभावित और असक्त रहता है। बाहरी परिवर्तन उसके मानसिक संतुलन को विचलित नहीं कर पाते। विषयों में रहते हुए भी विषयों से मुक्त रहने की यह स्थिति असंसक्ति कहलाती है।³¹
6. **पदार्थभावना**— जब पूर्व पाँच भूमियों के अभ्यास द्वारा साधक की स्थिति में दृढ़ता आ जाती है, तब साधक अंदर व बाहर के समस्त पदार्थों को समान भाव से उनके यथार्थ स्वरूप में जानने लगता है। विषयों के प्रभाव से रहित होकर सभी वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप समझ लेना ही पदार्थभावना कहलाता है।³²
7. **तुरीय**— उपर्युक्त छह भूमिकाओं का दृढ़ अभ्यास साधक को ऐसी अवस्था में पहुँचा देता है, जहाँ निद्रा में भी जाग्रत अवस्था की चैतन्यता बनी रहती है। चित्त का यह स्थिर एवं निर्विकल्प भाव “तुरीय” कहलाता है। यही स्थिति जीवनमुक्ति की अवस्था मानी जाती है।

मनोचिकित्सा

ज्ञान की यह सात भूमियाँ मन के क्रमिक शोधन और उत्थान की एक प्रभावी मनोचिकित्सात्मक प्रक्रिया को दर्शाती हैं। इन भूमियों के अभ्यास द्वारा साधक न केवल आध्यात्मिक रूप से अपितु मानसिक और भावनात्मक रूप से भी स्वस्थ बन सकता है। शुभेच्छा व्यक्ति में परिवर्तन की प्रेरणा उत्पन्न करती है, जो मनोचिकित्सा की प्रारंभिक अवस्था या बदलाव की तैयारी से जुड़ी है।

विचारणा, आत्मचिंतन और संज्ञानात्मक समझ विकसित करती है; जिससे व्यक्ति अपने विचारों और व्यवहार को पहचानकर उनमें सुधार लाना प्रारम्भ करता है।

तनुमानसा मन की स्थूलताओं और नकारात्मक आदतों को

कम करके भावनात्मक संतुलन प्रदान करती है। सत्तापति मानसिक स्पष्टता और सद्भाव का विकास करती है। असंसक्ति व्यक्ति को परिस्थितियों से अप्रभावित रहकर स्वस्थ भावनात्मक सीमाएँ बनाने में सक्षम बनाती है, जिसमें व्यक्ति यथार्थ को स्पष्ट रूप से देखना प्रारम्भ करता है।

समन्वित दृष्टि: योग वासिष्ठ और आधुनिक मनोविज्ञान में यह स्थापित है कि मानसिक स्वास्थ्य केवल रोग की अनुपस्थिति नहीं, अपितु आन्तरिक सन्तुलन उद्देश्य बोध और आत्म स्वीकृति की स्थिति है। योगवासिष्ठ ग्रन्थ की दृष्टि के अनुरूप जब आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होती है, तब स्थिरता, संतोष और आनन्द स्वतः ही उत्पन्न हो जाते हैं।

अतः योग वासिष्ठ का दृष्टिकोण आधुनिक मनोविज्ञान और एकीकृत मनोविज्ञान से सामंजस्य रखता है। दोनों ने इस बात को स्वीकार किया है कि मानसिक रोगों का मूल कारण बाहरी व आन्तरिक असन्तुलन और अज्ञान हैं।

निष्कर्ष

योग वासिष्ठ में अविद्या का अर्थ केवल अज्ञान नहीं, अपितु आत्मस्वरूप का अभाव है। यह अभाव ही मानसिक विकारों जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या द्वेष आदि को जन्म देता है और व्यक्ति मानसिक रोगों जैसे चिन्ता, अवसाद, भय इत्यादि से ग्रस्त होता है। परन्तु जब व्यक्ति को आत्म ज्ञान हो जाता है तो अविद्या नष्ट हो जाती है। अविद्या के नष्ट होने से व्यक्ति मानसिक रोगों से मुक्त होता है व आत्मज्ञान की प्राप्ति करता है। व्यक्ति को आत्म ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तो उसका चित्त स्थिर व शांत हो जाता है। ऐसे मनुष्य के सभी मानसिक विकार अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि समाप्त हो जाते हैं।

सन्दर्भ सूची—

¹अविद्यामानयैवेदं पेलवाङ्ग्या सुतुच्छया।

मिथ्याभावनया नाम चित्रमन्धीकृतं जगत्॥ योगवासिष्ठ 3,113,56

²संसारबीजकणिका येषा विद्या रघूद्वह।

एषा हाविद्यमानैव सतीव स्फारता गता ।। योगवासिष्ठ, 3,223,22
³चित्तमेव सुकलाडम्बरकारिणीमविद्यां विद्धि ।
 स विचित्तकेन्द्रजालवशादिदमुत्पादयति ।
 अविद्याचित्तजीवबुद्धिशब्दानां भेदो नस्ति बृक्षतरुशब्दयोरिव
 योगवासिष्ठ 3,226,8
⁴मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । द्वितोपदेश, 3,11,222
⁵मन शापादिभिर्दोषः कथं नाऽऽक्रम्यते प्रभो ।
 कथमाक्रम्यते वाऽपि बुद्धिं मे परमेश्वर ।। यो0 वा0 3,92,7
⁶गीताप्रेस, योगवासिष्ठ, पृ0 — 171
⁷संसारबीजकणिका यैषा विद्या रघूद्वह ।
 एषा हाविद्यमानैव सतीव स्फारतां गता । योगवासिष्ठ 3,223,22
⁸इति मायेव दुस्पारा चिच्छक्ति परिजुम्भते ।
 इत्थमाधन्तरहिता ब्राह्मी शक्तिरनामया ।। योगवासिष्ठ 6,80,28
⁹नंद लाल दशोरा, योगवासिष्ठ (माहरामायण), उत्पत्ति प्रकरण, पृ0 22
¹⁰दशोरा नंदलाल, योगवासिष्ठ (माहरामायण), पृ0 101
¹¹अतत्त्वज्ञानवशतः स्वेन्द्रियाक्रमणं विना ।
 उदि तानवमुत्सृज्य रागद्वेषनारतम् ।। योगवासिष्ठ 5,81,15
¹²दुष्कालव्यवहारेण दक्षिण्यास्फुरणेन च ।
 दुर्जनासङ्गदोषेण दुर्भावोद्धावनेन च । योगवासिष्ठ 5,81,18
¹³कुपितस्याऽसतोऽप्यस्य प्रेक्षामाक्षविनाशिनः ।
 अविद्या विततव्याधेरौषधं शृणु राघव ।। योगवासिष्ठ 3,223,22
¹⁴अविधैवमवमविज्ञाता चिरानन्तावभासते ।
 परिज्ञाता तु नास्त्येव मृगतुष्णानदी यथा ।। योगवासिष्ठ 6,260,8
¹⁵योगवासिष्ठ, गीताप्रेस, उपशम प्रकरण, पृ0 21
¹⁶यथा तुषारकणिका भास्करालोकनात् ।
 नश्यत्यंयमविधेय राघवाऽत्मावलोकनात् ।। योगवासिष्ठ 3,114,2
¹⁷तावत्संसारभृगुपु स्वात्मना सह देहिनम् ।
 आन्दोलयति नीरन्ध्रदुःखकाष्टकशलिसु ।। योगवासिष्ठ 3,114,3
¹⁸आस्थाः परं प्रपश्यन्तयः स्वात्मनाश प्रजायते ।
 आतपानुभवर्थिन्यारक्षाया इव राघव ।। योगवासिष्ठ 3,114,4
¹⁹यथोदिते दिनकरे क्वापि याति तमस्विनी ।
 तथा विवेकेऽभ्युदिते क्वाप्यविद्या विलीयते योगवासिष्ठ 3, 224, 2
²⁰यदा ब्रह्मात्मिकैरेयमविद्या तेनरात्मिका ।
 तदास्त्येषऽपरिज्ञाता परिज्ञाता न भिद्यते ।। योगवासिष्ठ 3, 220, 22
²¹एवमालोक्यमानैषा क्वापि याति पलायते ।
 असद्रूपा हावस्तुत्वाद्दृश्यते हाविचारणात् । योगवासिष्ठ 2, 20, 36
²²शमेनाऽऽसाधते श्रेयः शमे हि परमं पदम् ।
 शमः शिवः शमः शान्तिः शमो भ्रान्तिनिवारणम् ।।
 पुसः प्रशमत्पुसस्य शीतलाच्छतरात्मनः
 शमभूषितचित्तस्य शत्रुरप्येति मित्रताम् ।। योगवासिष्ठ 2, 13, 51
²³सन्तोषो हि परं श्रेयः सन्तोष सुखमुच्यते ।
 सन्तुष्टः परमभ्येति विश्राममरिसूदन ।। योगवासिष्ठ 15, 2, 2
²⁴विचारात्तीक्ष्णतामेत्य धीः पश्यति परं परम् ।
 दीर्घसंसाररोगस्य विचारो हि महौषधम् ।।
 न विचारं विना कश्चिदुपायोऽस्ति विपश्चिताम् ।
 विचारादशुभं त्यक्त्वा शुभमायाति धीः सताम् ।। योगवासिष्ठ 14, 2, 3
²⁵हिमापत्सरोजिन्या मोहनीहारमारुतः ।
 जयत्येको जगत्पस्मिन्साधु साधुसमागमः ।। योगवासिष्ठ 2,16,4
²⁶इमां सप्तपदां ज्ञानभूमिमाकर्णयतन्वथ ।
 नादनया शान्तया भिन्नो मोहपङ्के निजज्जन ।। योगवासिष्ठ 3.171.2
²⁷स्थितः किं मूढ एवाऽस्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः । वैराग्यपूर्वमिच्छन्ति
 शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ।। योगवासिष्ठ 3.171.8
²⁸विचारणा शुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थस्वसक्तता ।
 यादृसा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा ।। योगवासिष्ठ 3.171.10
²⁹भूमिकात्तियाभ्यासच्चित्रेऽर्थे विरतेर्वशात् ।

सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥ योगवासिष्ठ 3.171.11
³⁰दशाचतुष्टयाभ्यासादसंङ्गफलेन च ।
 रुढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्तावृत्तारात् प्रोक्ता असंसक्तिनामिका ॥
 —योगवासिष्ठ 3,171,11,12
³¹भूमिका पञ्चकाभ्यासात् स्वात्मापतया दृढम् ।
 आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ।।—योगवासिष्ठ 3,171,13त्र
³²भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्याऽनुपलम्भतः ।
 यत् स्वाभावैकान्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ।। —योगवासिष्ठ 3,171,15